१०

# युग-युग की मांग : समानता

जैन-धर्म एक अध्यात्मवादी धर्म है। उसकी सूक्ष्म दृष्टि मानव-आत्मा पर टिकी हुई है। वह दृष्टि मनुष्य के शरीर, इन्द्रिय, बाह्य-वेष, लिंग, वंश और जाति—इन सबकी दीवारों को भेदती हुई, सूक्ष्म आत्मा को ग्रहण करती है। वह आत्मा की बात करता है, आत्मा की भाषा बोलता है। सुख-दुःख के विकल्प, उच्चता-नीचता के मानदंड और यहाँ तक कि लोक-परलोक की चिन्ता से भी परे, वह शुद्ध अध्यात्म की बात करता है। इसका मतलब यह है कि संसार के जितने भी बाह्य विकल्प हैं ऊँच-नीच के, चाहे वे जाति की दृष्टि से हों, चाहे धन की दृष्टि से हों, चाहे शासन-अधिकार की दृष्टि से हों अथवा अन्य किसी भी दृष्टि से हों, वहाँ ये विकल्प तुच्छ पड़ जाते हैं, ये सब धारणाएँ उसकी दृष्टि से निष्प्राण-निर्माल्य एवं निरर्थक हैं। आत्मा के साथ इन धारणाओं का कहीं कोई मेल नहीं बैठता। भले ही पश्चाद्वर्ती व्यक्तियों ने कुछ ब्लेकमेल किया हो, किन्तु जैन-धर्म के महान् उद्गाता भगवान् महावीर के वचनों का जो महाप्रकाश हमें मिला है, उसके आलोक में देखने से पता चलता है कि जैन-धर्म का शुद्ध रूप आत्मा को छूता है। जाति, सम्प्रदाय, वंश और लिंग का 'ब्लैक मेल'—साँठ-गाँठ करने वाले, जैन-धर्म की आत्मा के साथ अन्याय कर रहे हैं।

**सबमें समान आत्मा है :**

भगवान् महावीर ने जो उपदेश दिया, अपने जीवन में जो विलक्षण कार्य किए, वे इस बात के साक्षी हैं कि जैन-धर्म का सन्देश आत्मा को जगाने का संदेश है। उसकी दृष्टि में राजा और रंक की आत्मा में कोई भेद नहीं है। उसके समक्ष जितने आत्म-गौरव के साथ एक कुलीन ब्राह्मण आ सकता है, उतने ही गौरव के साथ एक नीच और अन्त्यज कहा जाने वाला शूद्र चाण्डाल भी आ सकता है। वह यदि ब्राह्मणकुमार इन्द्रभूति गौतम का स्वागत करता है, तो श्वपाकपुत्र हरिकेशीबल और चाण्डालसुत महर्षि मेतार्य का भी उसी भाव और श्रद्धा के साथ स्वागत, सम्मान एवं आदर करता है। आत्मा किसी भी परि-स्थिति में चल रही हो, किसी नाम, रूप और जाति की सीमाओं में खड़ी हो, पर उसमें भी वही आत्म-ज्योति जल रही होती है, जो तुम्हारे भीतर भी है। भगवान् महावीर ने कहा है—यदि तुम्हारे सम्पर्क में कोई आता है, तो तुम उसकी आत्मा को देखो, उसे जागृत करने का प्रयत्न करो। उसके अच्छे-बुरे नाम, रूप आदि में मत उलझो। तुम आत्मवादी हो, तो आत्मा को देखो। शरीर को देखना, नाम, रूप एवं जाति को देखना, शरीरवादी अर्थात् भौतिकवादी दृष्टि है। आत्मवादी इन प्रपंचों में नहीं उलझता है, उसकी दृष्टि में तेज होता है, अतः वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्य स्वरूप को ग्रहण करता है, स्थूल पर उसकी दृष्टि नहीं अटकती। वह सूक्ष्म तत्त्व को पहचानता है और उसी तत्त्व का सम्मान करता है।

भगवान् महावीर के, जो प्राचीनतम भाषा में उपदेश प्राप्त होते हैं, वे बहुत-कुछ आज भी आचारांग में उपलब्ध हैं। भाषा—शैली की दृष्टि से वह सब आगमों में प्राचीन है और महावीर युग के अधिक निकट प्रतीत होता है। उसमें एक स्थान पर कहा गया है—

**"जहा पुणस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ,**
**जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ।"**



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"तुम्हारे सामने यदि कोई सम्राट् आता है, जिसके पीछे लाखों-करोड़ों सेवकों का दल खड़ा है, धन-वैभव का अम्बार लगा है, स्वर्ण-सिंहासन और शासन-शक्ति उसके पीछे है, किन्तु यदि उसे उपदेश देने का प्रसंग आता है, तो उसके धन और शक्ति पर दृष्टि मत डालो, उसके सोने के महलों की तरफ नजर तक न उठाओ, बल्कि उसे एक भव्य आत्मा समझकर उपदेश करो। और, तुम यह देखो कि उसकी सुप्त आत्मा जागृत हो, उसमें विवेक की ज्योति प्रज्वलित हो, बस यही ध्येय रखकर उपदेश करो और निर्भीक होकर करो।"

"और, यदि तुम्हारे समक्ष कोई दरिद्र भिखारी गली-कूचों में ठोकरें खाने वाला, श्वपाक या अन्त्यज चाण्डाल, जो संसार की नजरों में नीच कहा जाता है, वह भी आ जाए, तो, जिस प्रकार से तथा जिस भाव से तुमने सम्राट् को उपदेश दिया है, उसी प्रकार से और उसी भाव से उस तुच्छ और साधारण श्रेणी के व्यक्ति को भी देखो, और उसे उपदेश दो, उसके बाहरी रूप और जाति पर मत उलझो। यह देखो कि वह भी एक भव्य आत्मा है और उसकी आत्मा को जागृति का सन्देश देना हमारा धर्म है।"

आप देखेंगे कि जैन-धर्म का स्वर कितनी ऊँचाई तक पहुँच गया है। साधारण-जनता जिस प्रकार एक सम्राट् और एक श्रेष्ठी के प्रति सम्मान और सभ्य भाषा का प्रयोग करती है, एक कंगाल-भिखारी और एक अन्त्यज के प्रति भी जैन-धर्म उसी भाषा और उसी सभ्यता का पालन करने की बात कहता है। जितनी दृढ़ता और निर्भयता मन में होगी, सत्य का स्वर भी उतना ही स्पष्ट एवं मुखर होगा। अतः भिखारी और दरिद्र के सामने तुम जितने निर्भय और स्पष्टवादी होकर सत्य को प्रकट करते हो, उतने ही निर्भय और दृढ़ बनकर एक सम्राट् को भी सत्य का सन्देश सुनाओ। तुम्हारे स्पष्ट और सुदृढ़ सत्य की अपनी तेजस्विता स्वर्ण की चमक के सामने कम न होने पाए। सोने के ढक्कन से उसका मुंह बन्द न हो जाए जैसा कि ईशोपनिषद् में कहा गया है—"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखं" सोने के पात्र से सत्य का मुंह ढका हुआ है।" सम्राट् और तुम्हारे बीच में सम्राट् के धन और वैभव, शक्ति और साम्राज्य का विचार खड़ा मत होने दो। और, न दरिद्र और तुम्हारे बीच में दरिद्र की नगण्यता एवं तुच्छता का क्षुद्र विचार ही खड़ा हो। दोनों की आत्मा को समान समझो। अतः दोनों को समान भाव से धर्म का सन्देश दो, निर्भय और निरपेक्ष होकर, निष्काम और तटस्थ होकर।

## जाति नहीं, चरित्र ऊंचा है :

जैनधर्म शरीरवादियों का धर्म नहीं है। यदि अष्टावक्र ऋषि के शब्दों में कहा जाए, तो वह 'चर्मवादी' धर्म नहीं है। वह शरीर, जाति या वंश के भौतिक आधार पर चलने वाला 'पोला धर्म' नहीं है। अध्यात्म की ठोस भूमिका पर खड़ा है। वह यह नहीं देखता है कि कौन भंगी है, कौन चमार है और कौन आज किस कर्म तथा किस व्यवसाय से जुड़ा हुआ है? वह तो व्यक्ति के चरित्र को देखता है, सत्य की जागृति एवं जिज्ञासा को देखता है और देखता है उसकी आत्मिक पवित्रता को।

भारत का मध्य-युगीन इतिहास, जब हम देखते हैं, तो मन पीड़ा से आक्रांत हो जाता है। और, हमारे धर्म एवं अध्यात्म के प्रचारकों के चिन्तन के समक्ष एक प्रश्न चिन्ह लग जाता है कि वे क्या सोचते थे? और कैसा सोचते थे? प्राणिमात्र में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब देखने वाले भी श्रेष्ठी और दरिद्र की आत्मा को, ब्राह्मण और चाण्डाल की आत्मा को एक दृष्टि से नहीं देख सके। उन्होंने हर वर्ग के बीच भेद और घृणा की दीवारें खड़ी कर दीं। शूद्र की छाया पड़ने से वे अपने को अपवित्र समझ बैठते थे। इतनी नाजुक थी, उनकी पवित्रता कि किसी की छाया मात्र से वह दूषित हो उठती थी। कोई भी शूद्र धर्मशास्त्र का अध्ययन नहीं कर सकता था। क्या धर्मशास्त्र इतने पोचे थे कि शूद्र के छूते ही वे भ्रष्ट हो जाते? जरा सोचें, तो लगेगा कि कैसी भ्रान्त धारणाएँ थीं कि—जो शास्त्र ज्ञान का आधार माना जाता है, जिससे प्रवाहित होने वाली ज्ञान की पावन-धारा अन्तरंग



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के कलुष को, अनन्त-अनन्त जन्मों के पाप को धोकर स्वच्छ कर देती है, प्रकाश जगमगा देती है, संसार को दासता और बन्धनों से मुक्त करके आत्म-स्वातन्त्र्य और मोक्ष के केन्द्र में प्रतिष्ठित करने में समर्थ है, वह शास्त्र और उसकी ज्ञानधारा उन्होंने एक वर्गविशेष के हाथों में सौंप दी और कह दिया कि दूसरों को इसे पढ़ने का अधिकार नहीं। पढ़ने का अधिकार छीना सो तो छीना, उसे सुनने तक का भी अधिकार नहीं दिया। जो शूद्र पवित्र शास्त्र का उच्चारण कर दे, उसकी जीभ काट दी जाए, और जो उसे सुन ले, उसके कानों में खौलता हुआ शीशा डाल कर शास्त्र सुनने का दण्ड दिया जाए![1] कैसा था वह मानस? मनुष्य-मनुष्य के बीच इतनी घृणा? इतना द्वेष? जो शास्त्र महान् पवित्र वस्तु मानी जाती थी, उसमें भाषा को लेकर भी विग्रह पैदा हुए। एक ने कहा—संस्कृत देवताओं की भाषा है, अतः उसमें जो शास्त्र लिखा गया है, वह शुद्ध है, पवित्र है और प्राकृत तथा अन्य भाषाओं में जो भी तत्त्वज्ञान है, शास्त्र है, वह सब अपवित्र है, अधर्म है! एक ने संस्कृत को महत्त्व दिया, तो दूसरे ने प्राकृत को ही महत्त्व दिया। उसे ही देवताओं की भाषा माना, पवित्र माना। इस प्रकार की भ्रान्त धारणाएँ इतिहास के पृष्ठों पर आज भी अंकित हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि मनुष्य के अन्दर जाति, वंश, धर्म और भाषा का एक भयंकर अहंकार जन्म ले रहा था, ऐसा अहंकार जो संसार में अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए दूसरों की श्रेष्ठता, प्रतिष्ठा और सम्मान को खण्ड-खण्ड करने पर तुल गया था। दूसरों की प्रतिष्ठा का महत्त्व गिरा कर अपनी प्रतिष्ठा एवं श्रेष्ठता के महल, उन खण्डहरों पर खड़ा करना चाहता था। उन्होंने मनुष्य के सम्मान का, उसकी आत्मिक पवित्रता का और आत्मा में छिपी दिव्य-ज्योति का अपमान किया, उसकी अवगणना की और उसे नीचे गिराने एवं लुप्त करने की अनेक चेष्टाएँ कीं। उन्होंने चरित्र एवं सदाचार का मूल्य जाति और वंश के सामने गिरा दिया। इस प्रकार अध्यात्मवाद का ढिंढोरा पीटकर भी वे भौतिकवादी बन रहे थे। भगवान् महावीर ने यह स्थिति देखी, तो उनके अन्दर में क्रान्ति की लहर लहरा उठी। उनके क्रान्त स्फूर्त-स्वर गूंज उठे—

**"कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।**
**वईसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥"**—उत्त. २५, ३३.

श्रेष्ठता और पवित्रता का आधार जाति नहीं है, बल्कि मनुष्य का अपना कर्म है, अपना आचरण है। कर्म से ही व्यक्ति ब्राह्मण होता है और कर्म से ही क्षत्रिय। वैश्य और शूद्र भी कर्म के आधार पर ही होते हैं। संसार में कर्म की प्रधानता है। समाज के वर्ण और आश्रम कर्म के आधार पर ही विभक्त हैं। इसमें जाति कोई कारण नहीं है। मनुष्य की तेजस्विता और पवित्रता उसके तप और सदाचार पर टिकी हुई है, न कि जाति पर? **"न दीसई जाइविसेस कोई"** जातिविशेष का कोई कारण नहीं दीख रहा है। मनुष्य कर्म के द्वारा ऊँचा होता है, जीवन की ऊँचाइयों को नापता है और कर्म के द्वारा ही नीचे गिरता है, पतित होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस युग में मानव के मन में—जातिवाद और वर्गवाद का जो एक काँटों का घेरा खड़ा हो गया था, उसे जैन-धर्म ने तोड़ने की कोशिश की, मनुष्य-मनुष्य और आत्मा-आत्मा के बीच समता एवं समरसता का भाव प्रतिष्ठित करने का प्रबल प्रयत्न किया।

## प्रत्येक आत्मा समान है :

जैन-धर्म ने विश्व को यह सन्देश दिया है कि 'तुम यह भावना अन्तर्मन में से विलीन कर दो कि—कोई व्यक्ति जाति से नीचा है या ऊँचा है, बल्कि यह सोचो कि उसकी आत्मा

---

१. तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यं, अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूर्णम्, उदाहरणे जिह्वाच्छेदो, धारणे शरीरभेद इत्यादिना शूद्रस्य वेदश्रवणादेर्निषिद्धत्वात्।—श्रीभाष्यम् (श्रुतप्रकाशिका वृत्ति) अ. १, पा. १, सूत्र १.



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कैसी है ? प्रश्न जाति का नहीं, आत्मा का करो। आत्मा की दृष्टि से वह शुद्ध और पवित्र है या नहीं, इसी प्रश्न पर विचार करो।

पूर्वाचार्यों ने विश्व की आत्माओं को समत्व दृष्टि देते हुए कहा है कि—संसार की समस्त आत्माओं को हम दो दृष्टियों से देखते है—एक द्रव्य दृष्टि से और दूसरी पर्याय दृष्टि से। जब हम बाहर की दृष्टि से देखते हैं, पर्याय की दृष्टि से विचार करते हैं, तो संसार की समस्त आत्माएँ अशुद्ध मालूम पड़ती हैं। चाहे वह ब्राह्मण की आत्मा हो अथवा शूद्र की आत्मा, यहाँ तक कि तीर्थंकर की ही आत्मा क्यों न हो, वह जब तक संसार की भूमिका पर स्थित है, अशुद्ध ही प्रतीत होती है। जो बन्धन है, वह तो सबके लिए ही बन्धन है। लोहे की बेड़ी का बन्धन भी बन्धन है और सोने की बेड़ी का बन्धन भी बन्धन ही है। जब तक तीर्थंकर प्रारब्ध-कर्म के बन्धन से परे नहीं होते हैं, तब तक वह भी संसार की भूमिका में होते हैं, और संसार की भूमिका अशुद्ध भूमिका है। आत्मा जब विशुद्ध होती है, पर्याय की दृष्टि से भी विशुद्ध होती है, तब वह मुक्त हो जाती है, संसार की भूमिका से ऊपर उठ कर मोक्ष की भूमिका पर चली जाती है। इस प्रकार तीर्थंकर और साधारण आत्माएँ संसार की भूमिका पर पर्याय की दृष्टि से एक समान हैं। आप सोचेंगे, तो पाएंगे कि जैन-धर्म ने कितनी बड़ी बात कही है। जब वह सत्य की परतें खोलने लगता है, तो किसी का कोई भेद नहीं रखता। सिर्फ सत्य को स्पष्ट करना ही उसका एकमात्र लक्ष्य रहता है।

यदि हम द्रव्य दृष्टि से आत्मा को देखते हैं—तो द्रव्य अर्थात् मूलस्वरूप की दृष्टि से प्रत्येक आत्मा शुद्ध एवं पवित्र है। जल में चाहे जितनी मिट्टी मिल गई हो, कोयले का चूरा पीस कर डाल दिया गया हो, अनेक रंग मिला दिये गए हों, जल कितना ही अशुद्ध, अपवित्र और गन्दा क्यों न प्रतीत होता हो, पर यदि आपकी दृष्टि में सत्य को समझने की शक्ति है, तो आप समझेंगे कि जल अपने आप में क्या चीज है ? जल स्वभावतः पवित्र है या मलिन ? वह मलिनता और गन्दगी जल की है या मिट्टी आदि की ? यदि आप इस विश्लेषण पर गौर करेंगे तो यह समझ लेंगे कि जल जल है, गन्दगी गन्दगी है, दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, एक-दूसरे को प्रभावित करते हुए भी, अभिन्न सम्पर्क में रहते हुए भी, दोनों अलग-अलग हैं। इसी प्रकार अनन्त-अनन्त काल से आत्मा के साथ कर्म का सम्पर्क चला आ रहा है, आत्मा और कर्म का सम्बन्ध जुड़ा आ रहा है, पर वास्तव में आत्मा आत्मा है, वह कर्म नहीं है। जड़ कर्म अपनी उसी जड़ धुरी पर आज भी है, उसी स्थिति में है, वह कभी चित्स्वरूप आत्मा नहीं बन सका है और न बन सकेगा। इसका अभिप्राय यह हुआ कि मूल स्वरूप की दृष्टि से विश्व की प्रत्येक आत्मा पवित्र है, शुद्ध है। वह जल के समान है, उसमें जो अपवित्रता दिखाई पड़ रही है, वह उसकी स्वयं की नहीं, अपितु कर्म के ही कारण है—असत् कर्म, असत् आचरण और असत् संकल्पों के कारण है।

## आत्मा : परम पवित्र है :

यह बात जब हम समझ रहे हैं कि आत्मा की अपवित्रता मूल आत्मा की दृष्टि से नहीं, बाह्य कर्म के कारण है, तब हमें यह भी सोचना होगा कि वह अपवित्र क्यों होती है और फिर पवित्र कैसे बनती है ?

हमारे मन में जो असत् संकल्प की लहर उठ रही है, दुर्विचार जन्म ले रहे हैं, घृणा, वैर और विद्वेष की भावनाएँ जग रही हैं, वे हमें असत् कर्म की ओर प्रवृत्त करती हैं। अपने क्षुद्र स्वार्थ की पूर्ति के लिए मनुष्य संघर्ष करता है, इधर-उधर घृणा फैलाता है। इस प्रकार स्वार्थ जब टकराते हैं, तब विग्रह और युद्ध जन्म लेते हैं। वासना और व्यक्तिगत भोगेच्छा जब प्रबल होती है, तो वह हिंसा और अन्य बुराइयों को पैदा करती है। आज के जीवन में हिंसा और पापाचार की जो इतनी वृद्धि हो रही है, वह मनुष्य की लिप्सा और कामनाओं के कारण



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही है। ऐसा लगता है कि संसार भर के पाप आज मनुष्य के अन्दर आ रहे हैं और स्वप्न-जाल की तरह अपने नये-नये रूपों से संसार को आक्रांत करना चाहते हैं। मनुष्य इतना क्रूर बन रहा है कि अपने स्वार्थ के लिए, भोग के लिए वह भयंकर से भयंकर हत्याएँ तक कर रहा है। और, इस कारण कभी-कभी इस पर सन्देह होने लगता है कि उसके हृदय है भी या नहीं ? एक जमाना था, जब देवी-देवताओं के नाम पर पशु-हत्या की जाती थी, मूक और निरीह प्राणियों की बलि दी जाती थी। युग ने करवट बदली, अहिंसा और करुणा की पुकार उठी और व हत्याकांड काफी सीमा तक बन्द हो गए। पर, आज जिस उदर देवता के लिए लाखों पशु प्रतिदिन बलि हो रहे हैं, क्या उसे कोई रोक नहीं सकता ? पहले देवताओं को खुश करने के लिए पशु-हत्याएँ होती थीं, आज इस उदर-देवता, नहीं नहीं, राक्षस के भोजन और खाने के नाम पर पशु-हत्या का चक्र चल रहा है। आज का सभ्य मनुष्य भोजन के नाम पर अपने ही पेट में मूक पशुओं की कब्र बना रहा है। कहना चाहिए कि वह आज पशुओं की कब्र पर ही सो रहा है। यह भोजन सम्बन्धी तथा सौन्दर्य-प्रसाधन के रूप में फैसन सम्बन्धी भयंकर पशु-पक्षी-संहार तब तक नहीं रुक सकता, जबतक मनुष्य के अन्दर शुद्ध देवत्व जागृत न हो, शुद्ध दृष्टिकोण न जगे, प्रत्येक जीवधारी में अपने समान ही आत्मा के दर्शन न करे।

मनुष्य की भोगेच्छा आज इतनी प्रबल हो रही है कि उसकी बुद्धि कर्तव्य से चुंधिया गई है। अहंकार जाग्रत हो रहा है, फलतः वह सृष्टि का सर्वोत्तम एवं सबसे महान् प्राणी अपने को ही समझ रहा है। उसकी यह दृष्टि बदलनी होगी, आत्मा की समानता का भाव जगाना होगा। उसे यह अनुभव करना होगा कि जिस प्रकार की पीड़ा तुझे अनुभव होती है, वैसी ही पीड़ा की अनुभूति प्रत्येक प्राणी में है। किन्तु यह एक विचित्र बात है कि हम सिर्फ उपदेश देकर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं, अध्यात्मवाद और अध्यात्म-दृष्टि का गंभीर विश्लेषण करके उसे छोड़ देते हैं। विचारों से उतर कर अध्यात्मवाद आचार में नहीं आ रहा है, मुँह से बाहर निकल रहा है, पर मन की गहराई में नहीं उतर रहा है। जबतक अध्यात्म की चर्चा करनेवालों के स्वयं के जीवन में इसका महत्त्व नहीं समाएगा, नहीं उतरेगा, तब तक अध्यात्म को भूत-प्रेत की तरह भयानक समझ कर डरने वालों को हम इस ओर आकर्षित कैसे कर सकेंगे ? इसके लिए आवश्यक है कि हमारी धर्म-दृष्टि, हमारा अध्यात्म, पहले अपने जीवन में मुखर हो। इसका प्रचार हमें अपने जीवन से शुरू करना चाहिए, तभी हमारी अध्यात्म दृष्टि की कुछ सार्थकता है, अन्यथा नहीं।

**करुणा :**

विचार कीजिए—एक व्यक्ति को प्यास लगी है, गला सूख रहा है, वह ठण्डा पानी पी लेता है, या मजे से शर्बत बनाकर पी लेता है, प्यास शान्त हो जाती है। तो क्या इसमें कुछ पुण्य हुआ ? कल्याण का कुछ कार्य हुआ ? साता वेदनीय का बंध हुआ ? कुछ भी तो नहीं। अब यदि आप वहीं पर किसी दूसरे व्यक्ति को प्यास से तड़पता देखते हैं, तो आपका हृदय करुणा से भर आता है और आप उसे पानी पिला देते हैं, उसकी आत्मा शान्त होती है, प्रसन्न होती है और इधर आपके हृदय में भी एक शान्ति और सन्तोष की अनुभूति जगती है। यह पुण्य है, सत्कर्म है। अब इसकी गहराई में जाकर जरा सोचिए कि यह करुणा का उदय क्या है ? निवृत्ति है या प्रवृत्ति ? और पुण्य क्या है ? अपने वैयक्तिक भोग, या अन्य के प्रति अर्पण ? जैन-परम्परा ने व्यक्तिगत भोगों को पुण्य नहीं माना है। अपने भोग-सुखों की पूर्ति के लिए आप जो प्रवृत्ति करते हैं, वह न करुणा है, न पुण्य है। किन्तु जब वह करुणा, समाज के हित के लिए जागृत होती है, उसकी भलाई के लिए प्रवृत्त होती है, तब वह पुण्य और धर्म का रूप ले लेती है। जैन धर्म की प्रवृत्ति का यही रहस्य है। समाज के लिए अर्पण, बलिदान और उत्सर्ग की भावना उसके प्रत्येक तत्त्व-चिन्तन पर छाई हुई है। उसके हर चरण पर समष्टि के हित का दर्शन होता है।.



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

**मैत्री :**

जैन-परम्परा के महान् उद्‌गाता एवं अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने एक बार अपनी शिष्य-मंडली को सम्बोधित करते हुए कहा था—"मेत्ति भूएसु कप्पए" तुम प्राणि मात्र के प्रति मैत्री की भावना लेकर चलो !" जब साधक के मन में मैत्री और करुणा का उदय होगा, तभी स्वार्थान्धता के गहन अन्धकार में परमार्थ का प्रकाश झलक सकेगा। मैत्री की यह भावना क्या है ? निवृत्ति है या प्रवृत्ति ? आचार्य हरिभद्र ने मैत्री की व्याख्या करते हुए कहा है—**"परहित चिन्ता मैत्री ।"**—दूसरे के हित, सुख और आनन्द की चिन्ता करना। जिस प्रकार हमारा मन प्रसन्नता चाहता है, उसी प्रकार दूसरों की प्रसन्नता की भावना करना, इसी का नाम मैत्री है। मैत्री का यह स्वरूप निषेध रूप नहीं, बल्कि विधायक है, निवृत्ति मार्गी नहीं, बल्कि प्रवृत्ति-मार्गी है। जब हम दूसरों के जीवन का मूल्य और महत्त्व अपने समान ही मानते हैं, अपनी ही तरह उससे भी स्नेह करते हैं, जब वह कष्ट में होता है, तो उसको यथोचित सहयोग देकर सुखी करना, उसके दुःख में भागीदार बनना और उसकी पीड़ाएँ बाँटकर उसे शान्त और सन्तुष्ट करना—यह जो प्रवृत्ति जगती है, मन में सदभावों का जो स्फुरण होता है,—बस यही है मैत्री का उज्ज्वल रूप।

**दान :**

जैन-दर्शन के आचार्यों ने बताया है कि साता-वेदनीय कर्म का बन्ध किन-किन परिस्थितियों में होता है, और किस प्रकार के निमित्तों से होता है। उन्होंने बताया है कि संसार में जो भी प्राणी हैं, चाहे तुम्हारी जाति के हों, बिरादरी के हों, या देश के हों, अथवा किसी भिन्न जाति, बिरादरी या देश के हों, उन सबके प्रति करुणा का भाव जागृत करना, उनके दुःख के प्रति संवेदना और सुख के लिए कामना एवं प्रयत्न करना, यह तुम्हारे साता-वेदनीय के पुण्य-बन्ध का प्रथम कारण है।

दूसरा कारण यह बताया गया है कि—व्रती, संयमी और सदाचारी पुरुषों के प्रति अनुकम्पा का भाव रखना। गुणश्रेष्ठ व्यक्ति का आदर सम्मान करना, उनकी सेवाभक्ति करना, उनकी यथोचित आवश्यकताओं की पूर्ति का समय पर ध्यान रखना, साता-वेदनीय का द्वितीय बन्ध-हेतु है।

और तीसरा साधन है—दान। यहाँ आकर सामाजिक चेतना पूर्ण रूप से जागृत हो उठती है। आप अपने पास अधिक संग्रह न रखें, तिजोरियाँ और पेटियाँ न भरें, यह एक निषेधात्मक रूप हैं। किन्तु जो पास में है, उसका क्या करें, उसकी ममता किस प्रकार कम करें ? इसके लिए कहा है कि 'दान करो।' मनुष्य ने जो अपनी सुख-सुविधा के लिए साधन जुटाएँ हैं, उन्हें अकेला ही उपयोग में न ले, बल्कि समाज के अभावग्रस्त और जरूरतमन्द व्यक्तियों में बाँटकर उनका उपयोग करें।

दान का अर्थ यह नहीं है कि किसी को यों ही उपेक्षा से एक-आध टुकड़ा दे डाला कि दान हो गया। दान अपने में एक बहुत उच्च और पवित्र कर्तव्य है। दान करने से पहले पात्र की आवश्यकता का मन में अनुभव करना, पात्र के कम्पन के प्रति विचारों में अनुकम्पन होना और सेवा की प्रबुद्ध लहर उठना, दान का पूर्व रूप है। "जैसा मैं चेतन हूँ, वैसा ही चेतन यह भी है, चेतनता के नाते दोनों में कोई अन्तर नहीं है, इसलिए अखण्ड एवं व्यापक चैतन्य-सम्बन्ध के रूप में हम दोनों सगे बन्धु हैं, और इस प्रकार दो ही क्यों, सृष्टि का प्रत्येक चेतन मेरा आत्मबन्धु है, मेरी बिरादरी का है"—यह उदात्त भावना-पवन आपके मानस मानसरोवर को तरंगित करे, आप स्नेहार्द्र बन्धुभाव से दान करें—दान नहीं, संविभाग करें, उचित बँटवारा करें—यह है दान की उच्चतम विधि। दान की व्याख्या करते हुए आचार्यों ने कहा है—"संविभागो दानम्"—समवितरण अर्थात् समान बँटवारा दान है। भाई-भाई के बीच जो बँटवारा होता है, एक-दूसरे को प्रेम पूर्वक जो दिया-लिया जाता है, उससे न किसी के मन में अहं जगता है और न दीनता। चूँकि भाई को बराबर का एक साझीदार या अपने समान



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही अधिकारी मान लिया जाता है, फलतः देने वाले को अहंकार का और लेने वाले को दीनता का शिकार होना पड़े, ऐसा कोई प्रश्न ही नहीं रहता। ठीक इसी प्रकार आप जब किसी को कुछ अर्पण करते हैं, तो उसे 'समविभागी' यानि बराबर का समझकर अर्पण करो जो उसके उपयुक्त हो और जिस वस्तु की उसे आवश्यकता हो, उसके वितरण में न आपके मन में दाता बनने का अहंकार जगे, और न लेने वाले के मन में कृतज्ञता के विपरीत अपने आपको तुच्छ मानने की भावना उठे और न ही दीनता का संकल्प ही जगे, यही उत्तम स्व-पर-कल्याणकारी दान है।

अतः आज मानव-कल्याण की दिशा एवं दशा में सही परिवर्तन लाने के लिए समानता की भावना का जन-जन में स्वतःस्फूर्त होना परम आवश्यक है। समता की सभी क्षेत्रों में आज ज्वलंत मांग है, जिसे टाला नहीं जा सकता। यही एक कड़ी है, जिससे मानव-मानव के बीच भावनात्मक एकता की स्थापना संभव है।

●



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org